Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2022 SHISRRJ | Volume 5 | Issue 1 | ISSN : 2581- 6306

विचारधारा, आधुनिक हिन्दी कविता और निराला का शिल्प-सौन्दर्य

प्रशांत कुमार
शोधार्थी, भारतीय भाषा केंद्र,
भाषा, साहित्य और संस्कृति अध्ययन केंद्र, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

सारांश - विचारधारा का यह दुर्भाग्य रहा है कि उसका प्रयोग नकारात्मक अर्थों में अधिक होता आया है। सन 1960 में डेनियल बेल की पुस्तक 'दि एंड आफ आईडियालॉजी' के साथ विचारधारा के अंत की घोषणा होती है। इसके साथ जब रोला बार्थ का 'लेखक की मृत्यु' का सिद्धान्त जुड़ता है तो साहित्य से भी विचारधारा को खदेड़ने की माँग होने लगती है। मलार्मे का एक प्रसिद्ध कथन है- काव्य की रचना विचारों से नहीं शब्दों से होती है। इस उक्ति का उपयोग साहित्य में विचारों की प्रतिष्ठा के विरोध में किया जाता है। विचारधारा के विरोध में भी एक विचारधारा काम करती है जिसका कुछ न कुछ व्यक्तिगत, कला-संबंधी, वर्गीय या दलीय प्रयोजन होता है। ध्यातव्य है कि जिस समय यूरोप एवं अमेरिका में विचारधारा के अंत की घोषणा की जा रही थी, उस समय कविता मनुष्य से अपना संबंध-विच्छेद कर शाब्दिक जालों में उलझी हुई थी। ई0ई0 कंमिग्ज या सैण्डबर्ग उस समय कविता की विषय-वस्तु एवं मानवीय संबंधों को नजरअंदाज कर रहे थे। सैण्डबर्ग ने घोषणा की थी कि कविता काव्यात्मक विषयों की आकांक्षिणी नहीं होनी चाहिए और वह 'स्टीम इंजन' पर लिखी जानी चाहिए। कमिंग्ज शब्दों के अक्षरों को तोड़कर अर्थहीन या अर्थमुक्त उद्भावनाएं कविता के रूप में प्रस्तुत कर रहे थे। वस्तुतः विचारधारा को खारिज करने की वकालत साहित्य में मनुष्य की उपस्थिति को एक हद तक अप्रकाशित रखने और साहित्य में कलावाद को जीवित करने का एक प्रयास थी। हिन्दी कविता में विचारधारा के बरक्स कवितायें लिखी गई हैं। निराला की कवितायें अपने विचारधारा के बरक्स विशेष शिल्प कला के लिए भी रेखांकित की जाती रही हैं। इस शोध पत्र में निराला के शिल्प सौन्दर्य को केंद्र में रखकर उनके विचारधारात्मक सौन्दर्य को रेखांकित किया गया है।

बीज शब्द : हिन्दी कविता, विचारधारा, निराला का साहित्य, भाषा, कविता का शिल्प पक्ष।

विषय-वस्तु के चयन एवं कविता के शिल्प-निर्माण में कवि का आत्मपक्ष भी समाहित होता है। राजशेखर ने एक पुरानी कहावत का उदाहरण देते हुए लिखा है- "स यत्स्वभावः कविस्तदनुरूपं काव्यम" अर्थात जैसा कवि-स्वभाव होता है, वैसी ही उसकी कविता होती है। अतः कवि-स्वभाव या कवि-व्यक्तित्व में भिन्नता के कारण एक ही युग में भाषा का एक सामान्य स्वरूप होते हुए भी कविता की विषय-वस्तु के चयन एवं उनके रूप-पक्ष के निर्माण में अंतर दिखाई पड़ता है। वस्तुतः कवि द्वारा भाषा-प्रयोग के पीछे उपलब्ध भाषा से कहीं अधिक कवि का रचनात्मक परिवेश, भाषा-संस्कार, अध्ययन क्षेत्र, व्यक्तिगत रूचि, उद्देश्य, कवि-प्रतिभा, कवि की विश्व-दृष्टि आदि दूसरे प्रभाव काम करते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो कवि की विचारधारा का प्रभाव उसके रचना-शिल्प पर भी पड़ता है। प्रत्येक कवि अपने व्यक्तित्व के अनुरूप भाषा-शैली का उपयोग करता है। एडमंड विल्सन के शब्दों में कहें तो "प्रत्येक कवि का अनूठा व्यक्तित्व होता है"। अतः वह उस अनूठे व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करने के लिए विशिष्ट भाषा खोज निकालता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इसी संदर्भ में 'न्यूमन' के लेख 'लिटरेचर' का भावानुवाद करते हुए लिखा है- "कल्पना और विचार उसके (कवि के) अतःकरण के निवासी हैं जो शब्दों के

रूप में परिवर्तित होकर, जैसे भाप जल के रूप में परिवर्तित हो जाता है, उसके मुख से निकल पड़ते हैं और उसके चित्त को एक तरह से हल्का कर देते हैं। उसके चित्त की अवस्था और प्रवृत्ति, उसका आतंरिक स्वभाव सौंदर्य तथा उसके विवेचन की सूक्ष्मता और शक्ति इत्यादि उसकी भाषा में प्रतिबिंबित हो जाते हैं। .....जब विचार और कल्पना कवि की निज की वस्तु हैं तो कोई आश्चर्य नहीं जो उसकी स्टाईल अर्थात लिखने का तर्ज और उसकी भाषा भी केवल उसके विषय ही का प्रतिबिंब न हो, बल्कि उसके हृदय का भी प्रतिबिंब हो।[1]"

साहित्य और विचाराधारा का अभिन्न संबंध रहा है। किन्तु डॉ. रामविलास शर्मा ने 'आस्था और सौन्दर्य' में ललित कलाओं को विचारधारा के रूपों में नहीं गिना है क्योंकि उनमें भाषा का प्रयोग नहीं होता और वे विचारों की व्यंजना के लिए भाषा को अनिवार्य मानते हैं। उनके अनुसार "साहित्य भी शुद्ध विचारधारा का रूप नहीं है। उसका भावों और इन्द्रिबोध से घनिष्ठ संबंध है।"[2] यह कहना कि केवल भाषिक कलाओं की ही विचारधारा होती है, गलत है। रंगों में भी विचारधारा छिपी होती है। लाल झण्डा किस वर्ग की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है, यह बताने की जरूरत नहीं है। प्रगतिवादी कवि नरेन्द्र शर्मा ने तो 'लाल निशान' नामक काव्य-संग्रह ही लिख डाला था। उनका यह कहना- "लाल फौज के लिए कमर कस या लाल रूस है ढाल साथियों मार्क्सवादी विचारधारा को ही अभिव्यक्त करता है।"

डॉ. नंदकिशोर नवल ने संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रति एक विचारोत्तेजक प्रश्न उठाया है- "यह दिलचस्प है कि भारतीय काव्यशास्त्र में सौन्दर्य और रस की चर्चा तो है, लेकिन उसमें विचारधारा क्या, विचार का भी कोई संदर्भ नहीं मिलता।"[3] दरअसल, संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा शिष्ट समुदाय की वर्चस्वशील संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है और विचारधारा की बात न करना एक प्रकार से पौराणिक विचारलोक से पोषित वर्गीय स्थिति को बनाए रखना है। कभी रघुबीर सहाय एक जुमला बराबर दोहराया करते थे कि 'जहाँ कला अधिक होती है, वहाँ परिवर्तन भी नहीं होता।' यही कारण है कि फुरसतभोगी समाज कला-पक्ष पर अधिक जोर देकर साहित्य के बहाने समाज में यथास्थिति बनाए रखना चाहता है। यह आयास नहीं है कि संस्कृत कविता और रीतिकालीन काव्य-जगत में अतिशयोक्ति पर अधिक बल दिया गया है जो अधिकांशतः प्रभुता सम्पन्न वर्ग के रंजन एवं उसके वर्चस्व के संरक्षण का ही काम करती है। मुद्राराक्षस ने संस्कृत के कुछ कवियों पर आरोप लगाते हुए कहा था- "राजा लक्ष्मण सेन के राजकवि जयदेव ने गीतगोविन्द की रचना की थी। उन्हें मालूम था कि राजपुरूष स्त्रीकामी होता है। जयदेव भक्ति काव्य की मार्यादाएं लांघ कर भी राजपुरूष की स्त्रीलिप्सा पूरी करते हैं भले ही वे स्त्री के रूप में अपनी देवी की छवि क्यों न बिगाड़ रहे हों। कुमारसम्भवम् में पार्वती के साथ भी ठीक यही सुलूक किया गया है। वहाँ पार्वती की नग्नतम रति-क्रिया का ब्यौरा कालिदास ने इसलिए नहीं दिया था कि इससे उनके देवता प्रसन्न होते थे। वस्तुतः इससे उनका राजपुरूष आनन्द पाता था।"[4] हिन्दी साहित्य का रीतिकाल भी इसी मान्यता का शिकार था। यही कारण है कि वहाँ नायिका-भेद, अलंकार, नखशिख और ऋतु वर्णन आदि वर्ण्य-विषय बने जो सामंती वर्ग के प्रमुख विषय हैं। काव्य में चमत्कार, अतिशयोक्ति, उक्ति-वैचित्र्य आदि की भरमार आ गई। शृगारिक काव्यों की बिंब-चेतना अनेक मुद्राओं में अभिव्यक्त होने लगी जो पहले भक्तिकाव्य में नहीं दिखाई पड़ती थी।

हिंदी आलोचना के क्षेत्र में विचारधारा शब्द का प्रयोग करनेवाले आचार्य शुक्ल संभवतः पहले आलोचक थे। अपने समय की कतिपय रहस्यवादी कविताओं के संदर्भ में उन्होंने लिखा है- "आडम्बरी कविता की तह में विचारधारा का नाम तक नहीं रहता।"[5] इन कविताओं में आचार्य शुक्ल ने दों बातें प्रमुख रूप से देखी थीं - भावों की सच्चाई का अभाव और व्यंजना की कृत्रिमता। व्यंजना की कृत्रिमता अर्थात बिना भाव-मग्न हुए शिल्प की गहन नक्काशी। यह बात भी प्रमुख रूप से देखी जाती है कि शिल्पकारी एवं कलावाद के समर्थक ही कविता में विचारधारा को निरर्थक मानते हैं। एक समय अज्ञेय भी विचारों को खारिज करने के लिए रसज्ञ शब्द का प्रयोग करते थे। ऐसे लोग यह विस्मरित कर जाते हैं कि कला का रूप पक्ष भी

सर्जनाकार की विचारधारा से जुड़ा होता है। यहाँ तक बिंबों, प्रतीकों, अलंकारों आदि का भी अपना समाजशास्त्र होता है और इनके चयन में भी कवि की विचारधारा प्रच्छन्न होती है। उदाहरण के तौर पर तुलसी के 'राम चरितमानस' के किष्किन्धाकांड में वर्णित वर्षा एवं शरद ऋतु वर्णन के ये दो प्रसंग देखिए -

"महावृष्टि चलि फूटि किआरी। जिमि सुतंत्र भएं विगराहिं नारी।"

X X X X X

"मसक दंस बीते हिम त्रासा। जिमि द्विज द्रोह किए कुल नासा।"

ध्यातव्य है, यहाँ प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन के बहाने गाजें गिर रही हैं- स्त्रियों एवं ब्राह्मण-विरोधियों पर। यह तुलसी की अपनी विचारधारा है जो कविता में किसी न किसी रूप में प्रकट हो रही है। दूसरी ओर वर्णाश्रम व्यवस्था के घोर विरोधी कबीर अपनी कविताओं में जुलाहे एवं उसके कर्म का रूपक देना नहीं भूलते। कबीर की कविताओं में 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' या 'साहेब हैं रंगरेज चुनरी मेरी रंग डारी' जैसे रूपक आयास नहीं आए हैं। परमात्मा को जुलाहे या रंगरेज के रूप में देखना कबीर के जीवन के कर्मानुभवों से जुड़ा है और यह उस समाज के प्रति उनकी प्रतिबद्धता को भी सूचित करता है। उसी प्रकार प्रगतिवादी कवियों में नागार्जुन की कविताएँ 'खुरदरे पैर', 'घिन नहीं आती है' या 'पैने दांतोवाली' आदि का अपना एक अलग सौन्दर्यशास्त्र है जिसमें नागार्जुन की विचारधारा और प्रतिबद्धता साफ झलकती है।

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल पर गौर करें तो हम पाते हैं कि भारतेन्दु युग की कविता देश-दशा, समाज-सुधार आदि विषयों से अधिक आक्रांत थी। अतएव वहाँ भाषा का अभिधात्मक रूप अधिक मिलता है। किन्तु वहाँ व्यंग्य अधिक गहरा है। जिससे काव्य-भाषा की मारक क्षमता में इजाफा हो जाता है।

द्विवेदी युग के काव्य का मूलस्वर राष्ट्रीयता, समाज सुधार एवं नवीन ज्ञान-विज्ञान का दर्शन रहा। जिसका प्रभाव उनकी काव्य-भाषा पर स्पष्टतः देखा जा सकता है। यही कारण है कि वहाँ काव्य-विन्यास, शब्द-विन्यास में नई बंदिशें खूब सूझा करती थीं।

छायावादी कविता शब्द के अभिधात्मक प्रयोग से आगे बढ़कर लाक्षणिक एवं व्यंजनात्मक प्रयोगों के कारण काव्यभाषा को अर्थगत तरलता एवं बहुस्तरीयता प्रदान करती है। इस युग में व्यक्तिवादी एवं रहस्यवादी प्रवृत्ति अधिक गहरी थी। अतएव इस युग में नए बिंब, प्रतीक, अप्रस्तुत-विधान आदि मिलते हैं। छायावाद के पश्चात् प्रगतिवादी काव्यधारा ने व्यक्तिगत अनुभूतियों की जगह समाजिक भावबोध को, कल्पना की अपेक्षा वस्तुगत यथार्थ को, इन्द्रियबोध की अपेक्षा विचार को महत्व दिया। फलतः वहाँ अतिशय अलंकारिता की प्रवृत्ति समाप्त हो गई। पंत जी ने ग्राम्या में घोषण की-

"तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार।"

ऐसी स्थिति में कतिपय प्रगतिवादी कविता सपाट वक्तव्य बन गई। लोक-जीवन एवं यथार्थ के नाम पर वस्तु-बिंबों की भरमार लग गई। जिनमें कल-कालखाने, मोटर, ट्राम, रेल, भीड़ आदि सब थे। सबसे बड़ी बात है कि इस काल की कविताओं में शिष्ट जनोचित सौन्दर्यबोध के बजाय भदेस सौन्दर्य की भरमार होने लगी। दूसरी ओर वामपंथी विचारधारा से प्रभावित सैद्धान्तिक प्रतीक- हंसिया, हथौड़ा, लाल सेना आदि भी दिखने लगे। यथा-

"हंसिया और हथौड़ा अब तक हुआ नहीं पामाल,
यह पानी नहीं खून से ही झंडा है लाल।"

सामान्य जन के प्रति प्रतिबद्धता के कारण प्रगतिवादी काव्य की काव्य-वस्तु सामान्य जन के वास्तविक जीवन से गृहीत होने लगी। कहीं-कहीं जन-जीवन से गृहीत अप्रस्तुतों की एक सटीक शृंखला बन गयी है-

"यह उदास दिन,
पेंशन पाए चपरासी-सा,
और जुए में हारे जन-सा,
आपे में खोए गदहे-सा
मौन खड़ा है।"

प्रयोगवाद एवं नई कविता के दौर में अनुभूति की प्रामाणिकता और विषयों के वैविध्य के नाम पर शिल्प के क्षेत्र में अत्यधिक प्रयोग हुए। प्रयोगवादी कवियों का व्यक्तिगत अहं एवं नई कविता के कवियों का लघुमानव के प्रति लगाव, सब कुछ उस समय की कविताओं के शिल्प को प्रभावित करता है। किन्तु अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर सभी कवियों की रचना की अपनी काव्य-शैली है जिस पर उनके विचारों एवं संस्कारों की छाप है। अज्ञेय शब्दों के प्रति अत्यधिक सचेत और सतर्क हैं जिसके अर्थगर्भ उपयोग की चरम परिणति अर्थगर्भ मौन पर होती है। दूसरी ओर मुक्तिबोध की कविता में प्रयोगवाद और प्रगतिवाद का रासायनिक मिश्रण है। यही कारण है कि उनमें द्वंद्व कहीं अधिक ज्यादा है। वर्ग-संघर्ष उनके यहाँ मौजूद है। वहाँ प्रयोगवाद की आत्मग्रस्तता भी दिखती है। वे आत्ममंथन के कवि हैं। उनके यहाँ सभ्यता-परीक्षा, आत्मालोचन, आधुनिक बोध, रचना-प्रक्रिया सब कुछ मिलता है। यथार्थ चित्रण वहाँ कभी-कभी फैंटेंसी शिल्प में सामने आया है। किसी कविता में बाहर और अंदर के वैविध्य, अंतर्विरोध, बिखराव को फैंटेंसी के माध्यम से एक सूत्र में पिरोना आसान होता है। यही कारण है कि मुक्तिबोध ने कहा -

"मैं विचरण करता हूं एक फैंटेसी में,
यह निश्चित है कि फैंटेसी कल वास्तव होगी।"

फैंटेसी में मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष बोलता है। यह आत्मसंघर्ष सामाजिक विद्रूपताओं की देन है। इसलिए कवि आत्मालाप की शैली अपनाता है और अंत में वहीं भाषा की नाटकीय बिडंबना सहज सामने आ जाती है। इसके विपरीत शमशेर का आत्मसंघर्ष नितांत निजी संघर्ष है और उनकी कविताओं में मानसिक जटिलता व अचेतन मन की सीमाओं में परकाया प्रवेश भी खूब मिलता है। वे बिंबों, शब्दों को विराम, अर्द्धविराम, डैस, डाट से नियंत्रित करते हैं। इसके साथ-साथ उनकी कविताओं में उनका इम्प्रैशनिस्टिक चित्रकार बोलता है। यही कारण है कि उनकी कविताओं में विशाल चित्रशाला का आयोजन होता है-

"पूरा असामान का आसमान है
एक इन्द्रधनुषी ताल
नीला सांवला हल्का गुलाबी
बादलों का धुला
पीला धुआँ।"

कहना ना होगा कि कवि के चुनाव और उसकी अभिव्यंजना पद्धति पर उसके व्यक्तित्व, विचारधारा और सामाजिक संघर्षों का प्रभाव पड़ता है। वस्तुतः कवियों की भावधारा उनकी भाषा में भी देखने को मिलती है।

जहाँ तक निराला के शिल्प-सौन्दर्य का सवाल है, उस पर विचार करने से पहले निराला के युग और उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक बुनावट पर विचार कर लेना आवश्यक है। निराला के व्यक्तित्व और विचारधारा का विश्लेषण किए बिना उनके काव्य कि गहराई और बुनाबट का पता लगाना टेढ़ी खीर है। जिस युग में निराला ने काव्य-क्षेत्र में पदार्पण किया था वह युग एक ओर सामाजिक एवं सांस्कृतिक सुधारवादी आंदोलनों का युग था दूसरी ओर स्वाधीनता आंदोलन से जुड़ी क्रान्तिकारी चेतना

भी हिलोरें ले रही थी। निराला का काव्य युगीन भावधारा का प्रतिनिधित्व करने के साथ ही जीवन और साहित्य दोनों क्षेत्रों में क्रान्तिकारी चेतना का सृजन करता है। अपनी 'बहुस्पर्शिनी प्रतिभा' एवं 'विद्रोही व्यक्तित्व' का सहज विस्तार उन्होंने काव्य की नई भावभूमियों की स्थापना के रूप में किया है। वास्तव में निराला भक्तिकाल के बाद भारतीय साहित्य के सबसे बड़े राष्ट्रीय और संस्कृतिक उन्मेष के कवि हैं जिनमें साहित्य अपनी तमाम शक्ति, उपादेयता, सीमाओं व सम्भावना के साथ उभर कर सामने आता है। छायावाद अपनी तमाम वैयक्तिकता के बावजूद राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन व मुक्ति की आकांक्षा से जुड़ा काव्य था। डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है- "वस्तुतः हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के दो मोर्चे थे। एक मोर्चा प्राचीन सामंती मर्यादाओं के विरूद्ध था और दूसरा अंग्रेजी साम्राज्वाद के विरूद्ध। छायावाद का व्यक्ति स्वातंत्र्य मर्यादाओं के विरूद्ध बड़ा कदम था।"[6] अकारण नहीं कि निराला जहाँ पंचवटी प्रसंग में 'छोटे-से घर की लघु सीमा में बंधे हैं क्षुद्र भाव' की बात करते हैं तो दूसरी ओर 'जागो फिर एक बार' की भी अलख जगाते हैं। मुक्ति की यह आकांक्षा और विद्रोह का यह स्वर उनकी कविता के रूप-विन्यास पर भी प्रभाव डालता है। 'परिमल' की भूमिका में उन्होंने लिखा है- "मनुष्यों की मुक्ति तरह कविता की भी मुक्ति होती। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छंदों के शासन से अलग हो जाना।"[7] इस प्रकार कविता की बंधी-बंधाई परम्परा से मुक्ति और काव्य-अभिजात्य के बंधन तोड़ना निराला के लिए मुक्ति की आंकांक्षा ही थी। काव्य-रूढ़ियों के प्रति निराला में विद्रोह कुछ इस कदर भरा था कि वे अपनी कविता के लिए नई भाषा, नए मिथक, नई लय, नए छंद आदि की मांग करने लगे। कवि वाग्देवी सरस्वती से यह वरदान मांगता है-

"नवगति, नवलय, ताल-छंद नव,
नवलकंठ, नव जलद-मन्द्र रव
नव नभ के नव विहग-वृन्द को,
नव पर, नव स्वर दे!"

निराला की सामाजिक एंव सांस्कृतिक चेतना के गठन के मुख्य तत्व हैं- भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन, बंगाल का सांस्कृतिक जागरण, रवीन्द्रनाथ का मनावतावादी दृष्टिकोण, रामकृष्ण का वेदान्त और उनका स्वंय का जीवन संघर्ष। उनका काव्य-विकास उनके निजी जीवन के संपूर्ण आरोह-अवरोह की अभिव्यक्ति है। वे एकसाथ प्राचीन एवं आधुनिक परम्पराओं के निर्माता एवं विध्सवंक हैं। यही कारण है कि उनका काव्य किसी 'वाद' में बंधने का विशेष आग्रही नहीं है। निराला के छायावादी काव्य में भी प्रगतिवाद की सामाजिक-चेतना तथा प्रयोगवाद की शिल्प संबंधी अन्वेषणप्रियता की पूर्व अवस्थिति सहज मिल जाती है। आरम्भ मे इनके काव्य में समकालीन रचनाकारों के समान भावाकुलता व कल्पनाप्रियता है तो आगे चलकर सामजिक जीवन के वैषम्य व विसंगतियाँ उनके काव्य में स्थान पाने लगती है। वे प्रगतिवादी दौर में प्रचारित मार्क्सवादी दर्शन का पृष्ठपेषण ही नहीं करते, वरन् निजी अनुभवों के आधार पर यथार्थ की वस्तुगत एवं व्यंग्यात्मक व्यंजना भी करते हैं। यहाँ आकर कवि की छायावादी भाषा का अभिजात्य तथा कला-मुक्ति के आह्वान का ओजस्वी रूप समाप्त होकर जन सामान्य के धरातल पर उतर आता है। इस प्रकार बदलते हुए भावबोध के अनुरूप निराला के छायावादी एवं छायावादोत्तर काव्य में शिल्प-संबंधी कई परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं।

निराला की छायावादी रचनाएँ भाव संकुल तीव्र अनुभूमियों से ग्रंथित हैं, जहाँ गीतात्मकता अधिक है। निराला के कल्पनाप्रधान अतींद्रिय शृंगारिक, दार्शनिक, मानवीय प्रकृति, स्वंच्छंद, प्रणयादि विषयों से संबंधित गीतों का प्रणयन छायावाद के काव्य में प्रमुख रहा। इस युग में निराला, उत्कृष्ट गीतिकाव्य के रचयिता के रूप में दिखते हैं। कविता व संगीत 'गीतिका' में एकाकार हो उठे हैं। पंत ने भाषा को ध्वनिमय स्वरूप कहा है। निराला ने 'गीतिका' में लिखा है- "वर्ण चमत्मकार/एक-एक

शब्द बंधा ध्वनिमय साकार ।" शब्द-संगीत पर आधारित ध्वन्यात्मक योजना के सर्वाधिक उदाहरण निराला के काव्य में ही मिलते हैं। कोमल ध्वनि का आवृत्तिमय सौन्दर्य यहाँ दृष्टव्य है-

"धंसता दल दल,
हंसता है नद खल् खल,
बहता, कहता, कुलकुल कलकल कलकल ।"

निराला के गीतों में प्रेम-संबंधी गीत, आत्म-साक्षात्कार के गीत, मृत्यु-गीत, ऋतु-गीत, प्रपत्ति भाव के गीत, सभी मिलेंगे । प्रगीत की पाश्चात्य विधा के अनुरूप उसके आकारात्मक स्वरूपों को भी निराला ने अपनाया है जिसमें संबोधि-प्रगीत ('यमुना के प्रति', प्रपात के प्रति, 'खंडहर के प्रति', 'सम्राट एडवर्ड अष्टम् के प्रति'), 'पत्र-प्रगीत' ('महाराज शिवजी का पत्र'), 'नाट्य-प्रगीत (पंचवटी-प्रसंग) और शोक प्रगीत (सरोज-स्मृति) सभी मिलेंगे । छायावाद के सभी प्रगीतों में कल्पना एवं भावों की प्रसरणशीलता तथा विराट तत्व के दर्शन होते हैं, जो संकेतात्मकता, संश्लिष्टता एवं चित्रोपमता के गुणों से परिपूर्ण है । किन्तु प्रयोगधर्मिता यहाँ भी दिखाई देती है जहाँ मुक्त छंद, मुक्त गीतों का सृजन होता है और नवीन युगबोध के दर्शन होते हैं।

छायावादोत्तर काव्य में निराला के गीत सामान्य जनजीवन से सबंद्ध होकर लोकान्मुख बन जाते हैं जिनमें लोकजीवन में प्रयुक्त लोकधुनों का समावेश भी मिलता है। इसमें भारतीय शास्त्रीय संगीत के तत्व की जगह गेयत्व का ग्रामीण रूप, लोकगीतों की धुनों की अल्हड़-सी चाल एवं मस्ती है। दूसरी ओर तीव्र यर्थाथबोध से संपृक्त होकर कवि हृदयगत क्रोध की अभिव्यक्ति के लिए व्यंग्य-प्रगीत को उपयुक्त माध्यम बना देता है। यहाँ सामाजिक जीवन की करूणानुभूतियाँ तीखे कटाक्षों के रूप में व्यंग्य-प्रगीतों में उभरती हैं-

"आरे गंगा के किनारे/झाऊ के वन से पगडंडी पकड़े हुए
रेतों की खेती को छोड़कर; फूँस की कुटी/बाबा बैठे झोरे बहारे।
पंडों के सुघर सुघर घाट हैं। तिनके की टट्टी के ठाट हैं,
यात्री जाते हैं, श्राद्ध करते हैं/ कहते हैं, कितने तारे।"

यहाँ आकर तत्सम शब्दों के प्रति विशेष आग्रह समाप्त हो जाता है और लोक-सामान्य की प्रचलित शब्दावली कविता में स्थान पाने लगती है। 'कुकुरमुत्ता' में तो निराला बोलचाल के सामान्य ग्रामीण शब्दों को अपनाते हुए उर्दू, फारसी, अंग्रेजी, संस्कृत के शब्दों से मिली एक नवरूप भाषा का श्रीगणेश कर डालते हैं । निराला हिन्दी साहित्य में गजल-विधा के आविष्कारकर्ता भी हैं।

नवोन्मेषाशालिनी प्रज्ञा-संपन्न निराला आधुनिक हिन्दी साहित्य के सबसे बड़े प्रयोगशील कवि हैं । भारतेन्दु युग से लेकर समकालीन कविता तक की अधिकतर प्रवृत्तियों को उनके काव्य में देखा जा सकता हैं। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है- "निराला का सम्पूर्ण काव्य-व्यक्तित्व 'विरूद्धों का सामंजस्य' की उस अवधारणा से विकसित हुआ है जिसे कवि के समकालीन और प्रसिद्ध समीक्षक रामचंन्द्र शुक्ल ने आनन्द की साधनावस्था की उच्चतम रचना-भूमि का कारक तत्व स्वीकार किया है।"[8]

निष्कर्ष - ध्यातव्य है कि एक ओर निराला 'जुही की कली' के रूप में मुक्त छंद का प्रवर्तन करते है तो दूसरी ओर 'तुलसीदास' में सबसे कठिन छंद तथा तुक-विधान का पालन करते हैं। जहाँ एक ओर 'राम की शक्ति पूजा' तथा अनेक गीतों में तत्सम शब्दावली का आग्रह है वहीं दूसरी ओर कुकुरमुत्ता जैसी कविताओं में 'अबे सुन वे, गुलाब' सदृश देसी भंगिमा भी है। एक ओर उनके गीतों में उद्दाम प्रणय-चेष्टाएं हैं तो दूसरी ओर 'जागरण वाणी' का स्वर भी प्रमुखता से सुनाई पड़ता है। निराला के

दीर्घ काव्य-विकास में छायावाद से लेकर प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता के बीज मिल जाते हैं जिसका प्रभाव उनके काव्य-शिल्प पर भी मिलता है।

संदर्भ सूची –

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चितामणि, भाग- 3, साहित्य निबंध, पृ. 29
2. रामविलास शर्मा, आस्था और सौंदर्य, पृ. 16
3. नंद किशोर नवल, कसौटी- 3, 1999, (साहित्य का केन्द्र संवदेना या विचारधारा आलेख), पृ. 9
4. मुद्राराक्षस, तद्भव, अप्रैल, 2000: (साहित्य में विचारधारा विरोध की पड़ताल), पृ. 42
5. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'चिन्तामणि' भाग-2, (काव्य में रहस्यवाद निबंध), पृ. 42
6. नामवर सिंह, आधुनिक हिन्दी सहित्य की प्रवृत्तियां: पृ. 39
7. निराला, परिमल (भूमिका), पृ. 2
8. रामस्वरूप चतुर्वेदी, 'प्रसाद-निराला- अज्ञेय' पृ. 50